Akshardhara Research Journal
Single Blind Peer-Reviewed & Refereed International Research Journal
E ISSN -3048-8095 / Bimonthly / SJIF Impact- 3.4 November- December 2025 / VOL-02 ISSUE-III

06

आदिकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय ज्ञान-परम्परा

डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह
सहायक आचार्य
हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, गोंडा, अलीगढ़

सारांश- आदिकालीन हिन्दी काव्य भारतीय सांस्कृतिक चेतना और ज्ञान-परम्परा का मूल स्रोत है। इस काल के वीरगाथात्मक और नाथ–सिद्ध साहित्य में धर्म, नीति, शौर्य, लोक-ज्ञान, योग-दर्शन, प्रकृति-चेतना तथा सामाजिक संरचनाओं का गहरा प्रभाव मिलता है। यह शोध-पत्र ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक पद्धति के माध्यम से अध्ययन करता है कि आदिकालीन काव्य केवल युद्ध-कथाओं का संग्रह नहीं, बल्कि भारतीय ज्ञान-परम्परा के दार्शनिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, नैतिक और लोकानुभवों का दर्पण है। इस अध्ययन में यह प्रतिपादित किया गया है कि वेद–उपनिषद परम्परा, धर्मशास्त्रीय मूल्य, क्षत्रिय-धर्म, त्याग-बोध, योग-सिद्धान्त, प्रकृति-चेतना और ग्राम्य ज्ञान आदि आदिकालीन काव्य के विभिन्न रूपों में जीवित हैं और जनभाषा में पुनर्सृजित हुए हैं। अतः यह काव्य भारतीय ज्ञान–परम्परा को युगानुकूल अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

मुख्यशब्द : आदिकाल, वीरगाथा, ज्ञान-परम्परा, नाथ-सिद्ध, धर्म-नीति, समाज-चेतना, लोक-परम्परा, शौर्य-परम्परा।

1. प्रस्तावना

आदिकालीन हिन्दी काव्य, जिसे सामान्यतः वीरगाथा काल कहा जाता है, हिन्दी साहित्य की आरंभिक धारा है। प्रायः यह धारणा रही है कि यह काव्य केवल युद्ध-गाथाओं, वीरों के शौर्य, रणकौशल और पौरुषगाथाओं का वर्णन मात्र है, किन्तु यह दृष्टि सीमित है। आदिकालीन साहित्य में भारतीय ज्ञान-परम्परा की व्यापक और गहन अभिव्यक्ति निहित है। वेद-उपनिषद से लेकर धर्मशास्त्रों, लोक-संस्कृति, क्षत्रिय-धर्म, योग-सिद्धान्त, ग्राम्य ज्ञान, पर्यावरण बोध और लोकाचार तक—सभी की छाप इस काव्य में स्पष्ट दिखाई देती है। ज्ञान-परम्परा किसी भी सभ्यता के स्थायित्व का आधार होती है। भारत में यह परम्परा बहुस्तरीय है—दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, आध्यात्मिक और लोकानुभव-स्रोतों से निर्मित। आदिकालीन हिन्दी कवि इसी परम्परा के वाहक और संरक्षक रहे हैं। इस शोध-पत्र का उद्देश्य इस ज्ञान-परम्परा के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक रूपों का विश्लेषण प्रस्तुत करना है।

2. भारतीय ज्ञान-परम्परा: परिभाषा, स्वरूप और स्रोत

2.1 ज्ञान-परम्परा की अवधारणा

भारतीय ज्ञान-परम्परा एक ऐसी व्यापक और बहुस्तरीय अवधारणा है, जो केवल शास्त्रों में निहित सैद्धान्तिक ज्ञान तक सीमित नहीं रहती, बल्कि मानव-जीवन के समस्त अनुभवों, व्यवहारों, सांस्कृतिक रूपों और आध्यात्मिक साधनाओं का सम्मिलित परिणाम है। इसका मूलाधार 'विद्या' और 'प्रज्ञा' मानी गई है; विद्या वह है जो मनुष्य को अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाए, और प्रज्ञा वह आंतरिक चेतना है जो सत्य का साक्षात्कार कराए। इस प्रकार ज्ञान-परम्परा बाहरी और आंतरिक दोनों प्रकार के ज्ञान को समन्वित करती है।

भारतीय दृष्टि में ज्ञान केवल बौद्धिक उपक्रम नहीं, बल्कि जीवन-शैली है। यही कारण है कि वेद–उपनिषदों से लेकर स्मृति–परम्परा, तंत्र–योग, लोक–परम्परा और ग्रामीण जीवन तक—ज्ञान का स्वरूप अनेक रूपों में विकसित हुआ है। यहाँ ज्ञान धर्म, नैतिकता, आचार, साधना, कला, कृषि, चिकित्सा और समाज-व्यवस्था सबको समेटता है। यह पारम्परिक भारतीय विचार है कि ज्ञान तभी सार्थक है जब वह जीवन को उन्नत करे और मनुष्य को उसके 'स्वधर्म' और 'स्वभाव' के अनुरूप दिशा प्रदान करे।

ज्ञान-परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि यह 'अनुभव' और 'स्मृति' पर आधारित है। भारतीय मनीषा में जीवनानुभव को शास्त्र से अधिक सत्य माना गया है—यही कारण है कि लोकगीत, लोकोक्तियाँ, प्राचीन कथाएँ, जातक–कथाएँ, और मौखिक परम्पराएँ भी ज्ञान के वैध स्रोत मानी गईं। स्मृति का अर्थ केवल अतीत की बातें याद रखना नहीं, बल्कि सांस्कृतिक चेतना को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाना है। त्योहार, संस्कार, रीति-रिवाज और समुदाय-जीवन—ये सब इसी स्मृति-परम्परा का हिस्सा हैं।

भारतीय ज्ञान-परम्परा का तीसरा महत्त्वपूर्ण घटक है—'धर्म'। धर्म यहाँ संकीर्ण धार्मिक अर्थ में नहीं, बल्कि 'धारण' से उत्पन्न उस जीवन-व्यवस्था के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जो समाज को स्थिर रखे। इस दृष्टि से धर्म नैतिक मूल्यों, कर्तव्य, न्याय, संयम, करुणा और अनुशासन का आधार है। इसी धर्म-बोध ने भारतीय समाज को हजारों वर्षों तक एकसूत्र में बाँधे रखा।

'रीति' और 'लोक' इस परम्परा के अन्य अनिवार्य तत्व हैं। 'रीति' से आशय उन व्यवहारिक नियमों से है जिन्हें समाज ने परीक्षण के बाद अपनाया और पीढ़ियों तक चलाया। वहीं 'लोक' जीवन की सहजता, श्रम-संस्कृति, प्रकृति-चेतना और समुदाय की सामूहिक बुद्धि का प्रतिनिधित्व करता है। यह लोकबुद्धि कभी-कभी राजाओं से भी अधिक यथार्थवादी और वैज्ञानिक सिद्ध होती है।भारतीय ज्ञान-परम्परा की विशेषता यह है कि यह एकरेखीय न होकर बहुधारात्मक है। यहाँ ज्ञान वेदांत से लेकर भक्ति तक, योग से लेकर तंत्र तक, आयुर्वेद से लेकर वास्तु तक, कृषक-ज्ञान से लेकर खगोल-ज्ञान तक—सभी का समन्वय करती है। इसलिए इसे "समग्र ज्ञान-परम्परा" कहा गया है।

©Copyright 2024 *ADRJ*. All Rights Reserved

Akshardhara Research Journal
Single Blind Peer-Reviewed & Refereed International Research Journal
E ISSN -3048-8095 / Bimonthly / SJIF Impact- 3.4 November- December 2025 / VOL-02 ISSUE-III

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि भारतीय ज्ञान-परम्परा का उद्देश्य केवल 'जानना' नहीं, बल्कि 'होना' है—अर्थात ज्ञान का आचरण-रूप में अवतरण। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में 'ज्ञानी' वह है जिसकी दृष्टि, वाणी और कर्म—तीनों में एकरूपता हो। इसी बहुस्तरीय ज्ञान-धारा की छाया आदिकालीन हिन्दी काव्य पर स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जहाँ वीरगाथा और योग-साधना दोनों ही ज्ञान की दो अलग धाराएँ बनकर उभरती हैं, किन्तु दोनों का आधार यही व्यापक भारतीय ज्ञान-परम्परा है।

2.2 प्रमुख स्रोत

(क) श्रुति-परम्परा

भारतीय ज्ञान-परम्परा में *श्रुति* सर्वोच्च प्रमाण मानी गई है, जिसमें वेद और उपनिषद मानव सभ्यता के प्राचीनतम आध्यात्मिक, दार्शनिक और नैतिक स्रोत हैं। वेदों में *सत्य, ऋत* और *ब्रह्म* जैसी व्यापक अवधारणाएँ निहित हैं, जो विश्व-चेतना और समष्टिगत व्यवस्था का बोध कराती हैं। उपनिषद मनुष्य को आत्मा और परम सत्ता के एकत्व का ज्ञान देकर जीवन के अंतिम उद्देश्य की ओर प्रेरित करते हैं। इस परम्परा में *धर्म* का अर्थ केवल धार्मिक आचरण नहीं, बल्कि कर्तव्य, नैतिकता और समुचित आचरण की वह रीति है जो व्यक्ति, समाज और प्रकृति के बीच संतुलन स्थापित करती है। इस प्रकार श्रुति-परम्परा भारतीय ज्ञान-विचार के मूल तत्त्वों को निर्मित करते हुए आदिकालीन काव्य-धारा को एक दार्शनिक आधार प्रदान करती है।

(ख) स्मृति एवं धर्मशास्त्र

भारतीय ज्ञान-परम्परा में *स्मृतियाँ* और *धर्मशास्त्र* सामाजिक व्यवहार, नीति, शासन और आचार-व्यवस्था के व्यावहारिक स्रोत माने गए हैं। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृति जैसे ग्रंथों ने मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक कर्तव्यों की विस्तृत व्याख्या करते हुए धर्म के लौकिक रूप को स्पष्ट किया। इनमें *क्षत्रिय-धर्म* का उल्लेख विशेष महत्त्व रखता है, जो समाज की रक्षा, न्याय-व्यवस्था और शासन-संचालन के मूल्य तय करता है। स्मृतियों में *नीति, आचार*, संयम, सामाजिक सुव्यवस्था और उत्तरदायित्व के सिद्धांतों को अत्यंत सूक्ष्मता से प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार स्मृतियाँ भारतीय चेतना को व्यवस्था, संतुलन और नैतिकता का संगठित दर्शन प्रदान करती हैं।

(ग) पुराण और महाकाव्य

भारतीय ज्ञान-परम्परा में पुराण और महाकाव्य—विशेषतः *रामायण* और *महाभारत*—सांस्कृतिक, नैतिक और दार्शनिक मूल्यों के जीवंत भंडार हैं। *रामायण* में राम एक आदर्श नायक, उत्तम पुत्र, उत्तम राजा और उत्तम मानव के रूप में प्रतिपादित हैं, जो धर्म, करुणा, मर्यादा और कर्तव्यपालन की पराकाष्ठा प्रस्तुत करते हैं। *महाभारत* में धर्म का संघर्ष अधिक जटिल रूप में उभरता है, जहाँ भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन और कृष्ण जैसे पात्र धर्म के विविध आयामों को जीते हैं। इन ग्रंथों में *आदर्श राज्य* की संकल्पना—जहाँ न्याय, नैतिकता, करुणा और जनकल्याण सर्वोपरि हों—स्पष्ट रूप से उभरती है। पुराणों और महाकाव्यों का उद्देश्य केवल कथा-विन्यास नहीं, बल्कि समाज को जीवन-दर्शन, नीति और आदर्श आचरण का मार्ग दिखाना है। यही कारण है कि आदिकालीन कवि इन ग्रंथों से मूल्यों, पात्रों और आदर्शों का गहन प्रभाव ग्रहण करते हैं।

(घ) लोक-परम्पराएँ एवं योग–तंत्र परम्परा (नाथ–सिद्ध धारा)

भारतीय ज्ञान-परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण आधार *लोक-परम्पराएँ* हैं, जो ग्राम-जीवन, कृषक-चेतना और प्रकृति के साथ समन्वित अनुभवों से विकसित होती हैं। ग्रामवासियों का कृषि-ज्ञान, मौसम-सम्बंधी अनुभव, बीज-संरक्षण तथा जल-प्रबंधन की पारंपरिक पद्धतियाँ भारतीय लोक-बुद्धि की वैज्ञानिकता को प्रमाणित करती हैं। इसी के साथ लोक-नीति—जैसे सहयोग, परस्पर-सम्मान, न्याय, सत्य और सामूहिकता—समाज की नैतिक संरचना को गढती हैं। दूसरी ओर *योग और तंत्र परम्परा*, विशेष रूप से नाथ–सिद्ध परम्परा, भारतीय ज्ञान के शरीर-मन और चेतना के उन्नत आयामों का प्रतिनिधित्व करती है। इस धारा में *देह-साधना* को मुक्ति और पूर्णता का साधन माना गया है, जहाँ शरीर को ही योगमार्ग का माध्यम समझा जाता है। *सहजयोग* मनुष्य को सहज, आंतरिक और अनुभवजन्य ज्ञान की ओर ले जाता है, जो बाहरी अनुष्ठानों से परे है। नाथ–सिद्धों के ग्रंथ और पद मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अत्यंत समृद्ध हैं, क्योंकि इनमें मन, प्राण, चेतना और अनुभूति के सूक्ष्म स्तरों का गहरा विश्लेषण मिलता है। इस प्रकार लोक-परम्परा और योग–तंत्र परम्परा मिलकर भारतीय ज्ञान-परम्परा को व्यावहारिकता, आध्यात्मिकता और मनोविज्ञान—तीनों स्तरों पर समृद्ध करती हैं। इन सभी स्रोतों का प्रभाव आदिकालीन हिन्दी काव्य पर स्पष्ट रूप में विद्यमान है।

3.आदिकालीन हिन्दी काव्य: प्रकृति और विशेषताएँ

आदिकालीन हिन्दी काव्य को दो प्रमुख धाराओं में बांटा जाता है—

1. **वीरगाथा परम्परा-** वीरगाथा परम्परा आदिकालीन हिंदी काव्य की वह महान धारा है जिसमें युद्ध, वीरता, स्वाभिमान, त्याग और सामाजिक संरक्षण के आदर्शों का उन्नयन मिलता है। इसमें आल्हा, ऊदल, पृथ्वीराज, तेजाजी जैसे योद्धाओं के शौर्य का वर्णन केवल इतिहास या कथा नहीं, बल्कि समाज में नैतिक शक्ति, कर्तव्य और सामूहिक सुरक्षा की चेतना जगाने का माध्यम है। इस

Akshardhara Research Journal
Single Blind Peer-Reviewed & Refereed International Research Journal
E ISSN -3048-8095 / Bimonthly / SJIF Impact- 3.4 November- December 2025 / VOL-02 ISSUE-III

परम्परा में कवि वीरों को आदर्श नायक रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो अपने कुल, भूमि और समुदाय की रक्षा के लिए जीवन अर्पित करते हैं। वीरगाथाएँ केवल युद्ध-कथाएँ नहीं बल्कि भारतीय लोक-मानस की वीरता-प्रेरित ज्ञान-परम्परा का जीवंत रूप हैं।

2. **नाथ–सिद्ध परम्परा**-नाथ–सिद्ध परम्परा भारतीय योग, तंत्र और सहजज्ञान की अत्यंत प्रभावशाली धारा है, जो देह-साधना, प्राण-शुद्धि और अंतर्मुखता के माध्यम से ज्ञान प्राप्ति का मार्ग सुझाती है। गोरखनाथ, मत्स्येंद्रनाथ जैसे सिद्धों ने शरीर को ही मुक्ति और सत्य-ज्ञान का साधन माना तथा 'सहजयोग' को जीवन का मूल सिद्धांत बनाया। इस परम्परा में जटिल दार्शनिक अवधारणाएँ सरल, लोकभाषा में व्यक्त की गईं, जिससे यह परम्परा व्यापक जन-समुदाय तक पहुँची। नाथ–सिद्ध साहित्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह मन, चित्त, प्राण और चेतना की गहन परतों को उद्घाटित करता है। इस प्रकार यह परम्परा आदिकालीन हिंदी काव्य को आध्यात्मिक व दार्शनिक आधार प्रदान करती है।

3.1 वीरगाथा परम्परा की विशेषताएँ

वीरगाथा परम्परा आदिकालीन हिंदी काव्य की वह धारा है जिसमें समाज के मूल्यों—वीरता, त्याग, धर्मनिष्ठा और राष्ट्ररक्षा—को साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इस परम्परा में क्षत्रिय-धर्म का महत्त्व सर्वोपरि है, जिसमें युद्ध केवल संघर्ष नहीं बल्कि न्याय, लोक-सुरक्षा और सम्मान की रक्षा का पावन कर्तव्य माना गया। वीरगाथाओं में नायक न केवल रणकुशल होते हैं, बल्कि नारी-सम्मान के प्रतीक भी होते हैं, क्योंकि वे स्त्री की प्रतिष्ठा, सुरक्षा और मान-मर्यादा को सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकारते हैं। इन रचनाओं में दान, त्याग और धर्म-निष्ठा जैसे गुण वीरों के चरित्र का अभिन्न अंग हैं, जो उन्हें आदर्श व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करते हैं। साथ ही, वीरगाथाएँ इतिहास-स्मृति को भी संजोए रखती हैं, क्योंकि इनके माध्यम से स्थानीय युद्धों, नायकों और सामुदायिक संघर्षों का सजीव वर्णन मिलता है। इस प्रकार वीरगाथा परम्परा मात्र युद्ध-केंद्रित साहित्य नहीं, बल्कि भारतीय समाज के नैतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चेतना की संवाहक धारा है।

3.2 नाथ–सिद्ध परम्परा की विशेषताएँ

नाथ–सिद्ध परम्परा भारतीय ज्ञान-परम्परा की वह विशिष्ट धारा है जिसमें योग-सिद्धान्त, देह-तत्वज्ञान और अद्वैत चिंतन का अनूठा समन्वय मिलता है। इस परम्परा में शरीर को साधना का माध्यम मानते हुए *देह-तत्वज्ञान* को विशेष महत्त्व दिया गया है, क्योंकि शरीर ही प्राण, चित्त और चेतना का केंद्र माना जाता है। नाथयोगियों का अद्वैत दृष्टिकोण मनुष्य को आंतरिक एकत्व का बोध कराता है, जहाँ जीव और शिव, जड़ और चेतन, मन और ब्रह्म के बीच विभाजन मिट जाता है। *सहजयोग* इस परम्परा की मुख्य विशेषता है, जिसमें जटिल साधनाओं के बजाय सहज, प्राकृतिक और अनुभवजन्य ज्ञान को सर्वोत्तम साधना माना गया है। नाथ–सिद्ध कवियों ने अपनी अनुभूतियों को संस्कृत के स्थान पर लोक-भाषाओं में व्यक्त किया, जिससे उनकी वाणी अत्यंत सशक्त, सरल और जनसुलभ बनी। इस प्रकार नाथ–सिद्ध परम्परा आध्यात्मिकता, मनोविज्ञान और लोकभाषा की चेतना को एकजुट कर आदिकालीन हिंदी काव्य को नई दिशा प्रदान करती है।ये दोनों धाराएँ भारतीय ज्ञान-परम्परा को अलग-अलग किन्तु पूरक रूप में विकसित करती हैं।

4. वीरगाथा परम्परा में भारतीय ज्ञान-परम्परा

4.1 क्षत्रिय-धर्म: नैतिकता और कर्तव्य

वीरगाथा परम्परा के प्रमुख ग्रन्थ *पृथ्वीराज रासो*, *अल्हाखंड* और *बीसलदेवरासो* में क्षत्रिय-धर्म के मूल तत्व अत्यंत प्रभावी रूप में उभरते हैं। **पृथ्वीराज रासो** में *सत्य* का अर्थ वचन-पालन और प्रतिज्ञा की अखंड निष्ठा है—जैसे पृथ्वीराज चौहान का जयचंद द्वारा छल किए जाने पर भी युद्ध में सत्य और धर्म का पालन करना। *शौर्य* के उदाहरण में पृथ्वीराज का तराइन के मैदान में निर्भीक युद्ध, और 'शब्द-भेदी बाण' से मोहम्मद गौरी को परास्त करना उल्लेखनीय है। *प्रजा-रक्षा* का आदर्श तब दिखता है जब वे दिल्ली राज्य की जनता को बाहरी आक्रमणों से बचाने के लिए निरंतर युद्ध करते हैं। *मातृभूमि-भक्ति* का उत्कर्ष उनके उस संकल्प में दिखता है कि वे किसी भी कीमत पर अपनी धरती को पराधीन नहीं होने देंगे। वहीं *स्त्री-सम्मान* का उदाहरण संयोगिता को सम्मानपूर्वक स्वीकार करना और युद्ध के माध्यम से उसका संरक्षण करना है।

अल्हाखंड में क्षत्रिय-धर्म और भी अधिक जनपदीय और यथार्थपूर्ण रूप में मिलता है। *सत्य* का सर्वोत्तम उदाहरण अल्हा-ऊदल के युद्धों में 'वचन-पालन' की परंपरा है—अल्हा हर परिस्थिति में अपना दिया हुआ वचन निभाकर क्षत्रिय-सत्य को सिद्ध करता है। *शौर्य* में स्वर्ण-गिरि के युद्ध और महोबा की रक्षा के लिए उनकी अप्रतिम पराक्रम-गाथाएँ प्रमुख हैं। *प्रजा-रक्षा* का भाव तब दिखता है जब वे चंदेल राजा परमाल की भूलों के बावजूद महोबा की जनता को बचाने के लिए प्राण-तुल्य युद्ध करते हैं। *मातृभूमि-भक्ति* का चरम रूप ऊदल के संवादों में मिलता है—जहाँ वे कहते हैं कि भूमि और कुल की लाज के लिए मृत्यु भी सरल है। *स्त्री-सम्मान* का उदाहरण रूपा-रानी और अन्य स्त्री पात्रों की रक्षा के लिए किए गए युद्धों में मिलता है, जहाँ स्त्री की मान-रक्षा को क्षत्रिय-धर्म का सर्वोच्च अंग बताया गया है।

बीसलदेवरासो में क्षत्रिय-धर्म का स्वर थोड़ा अधिक राजपूताना गौरव और कर्तव्य के साथ प्रकट होता है। बीसलदेव के चरित्र में *सत्य* का अर्थ राज्य-प्रतिज्ञा और न्यायपूर्ण शासन है—वे प्रजा के सामने कभी असत्य या छल का आश्रय नहीं लेते। *शौर्य* का परिचय उनके पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध किए गए विजय-युद्धों में मिलता है, जहाँ कवि उन्हें निडरता और रणकुशलता का प्रतिमान बताते हैं। *प्रजा-रक्षा* उनके

Akshardhara Research Journal
Single Blind Peer-Reviewed & Refereed International Research Journal
E ISSN -3048-8095 / Bimonthly / SJIF Impact- 3.4 November- December 2025 / VOL-02 ISSUE-III

शासन का मूल आधार है, और वे अपने क्षेत्र को दस्युओं, बाहरी आक्रमणकारियों और आतंरिक अत्याचारों से बचाते दिखाई देते हैं। *मातृभूमि-भक्ति* का उल्लेख तब मिलता है जब बीसलदेव अपनी भूमि को 'माँ' कहकर उसकी रक्षा के लिए युद्ध करने का संकल्प दोहराते हैं। *स्त्री-सम्मान* का आदर्श उनकी रानी तथा राज्य की स्त्रियों के प्रति आदर, संरक्षण और मर्यादा-पालन में स्पष्ट दिखाई देता है, जो राजपूत संस्कृति का मूल तत्व है। स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। ये धर्मशास्त्रीय मूल्यों पर आधारित हैं।

4.2 इतिहास-बोध और सांस्कृतिक स्मृति

वीरगाथाओं में इतिहास-बोध केवल तिथियों और घटनाओं का वर्णन नहीं, बल्कि उसे एक *धर्म-कर्म* के रूप में देखा गया है, जहाँ अतीत का पुनर्स्मरण समाज की नैतिक चेतना को जागृत करने का माध्यम बनता है। इन कृतियों में युद्ध को मात्र भौतिक संघर्ष नहीं, बल्कि सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय, स्वाभिमान और अपमान के बीच होने वाले *मूल्य-संघर्ष* के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वीरगाथाएँ स्मृतियों के माध्यम से समुदाय को उसके नायकों, आदर्शों और सांस्कृतिक मूल्यों से जोड़ती हैं, जिससे समाज में गौरव और स्वाभिमान का भाव विकसित होता है। इस प्रकार वे केवल साहित्यिक रचनाएँ न होकर जन-समुदाय की ऐतिहासिक चेतना और सांस्कृतिक पहचान को संरक्षित रखने वाली ज्ञान-परम्परा का अनिवार्य अंग हैं।

4.3 त्याग, दान और लोकधर्म

वीरगाथाओं में नायक केवल रणक्षेत्र के योद्धा नहीं होते, बल्कि वे समाज के दानी, लोक-पालक और धर्मनिष्ठ व्यक्तित्व के रूप में भी चित्रित किए जाते हैं। उनका त्याग व्यक्तिगत हितों से ऊपर उठकर सामूहिक हित और जनकल्याण की भावना को प्रकट करता है। दान को क्षत्रिय-धर्म का अनिवार्य गुण माना गया है—जहाँ वीर आवश्यक संसाधन, भूमि, धन या जीवन तक समाज के लिए अर्पित कर देते हैं। लोकधर्म की यही भावना उन्हें जनता के संरक्षक और नैतिक मार्गदर्शक के रूप में प्रतिष्ठित करती है। इस प्रकार त्याग, दान और लोकधर्म वीरगाथाओं के नायकों को केवल ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं बल्कि भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के जीवंत प्रतीक बनाते हैं।

4.4 स्त्री का स्थान और कुल-धर्म

वीरगाथा परम्परा में स्त्री को कुल-धर्म, मर्यादा और कुल-गौरव की वाहक के रूप में अत्यंत आदर दिया गया है। नारी को परिवार, कुल और समुदाय की प्रतिष्ठा का केंद्र माना गया है, इसलिए उसकी सुरक्षा, सम्मान और गरिमा को क्षत्रिय-धर्म का सर्वोच्च कर्तव्य कहा गया है। यह दृष्टि वैदिक और पुराणिक परम्पराओं से विकसित हुई है, जहाँ स्त्री को लक्ष्मी, शक्ति और कुल-रक्षा का प्रतीक माना गया है। वीर नायक अपने कर्तव्यों में स्त्री-मान की रक्षा को युद्ध से भी अधिक पवित्र मानते हैं। इस प्रकार स्त्री की प्रतिष्ठा वीरगाथा साहित्य में कुल-धर्म और सांस्कृतिक मर्यादा की मूल आधारशिला बनकर उभरती है।

5. नाथ–सिद्ध साहित्य में भारतीय ज्ञान-धारा

5.1 योग-दर्शन का साहित्यिक रूप

गोरखनाथ, जालंधरनाथ, भर्तनाथ आदि सिद्धों के पदों में देह-योग, प्राण, चित्त, साधना, सहज-स्थिति का वर्णन है। सिद्ध और नाथ कवियों—विशेषतः **गोरखनाथ, जालंधरनाथ, भर्तनाथ** आदि—के पदों में *योग* का साहित्यिक रूप अत्यंत जीवंत मिलता है। इनके काव्य में **देह-योग, प्राण की साधना, चित्त-शुद्धि, और सहज-स्थिति** का अत्यंत सरल किंतु दार्शनिक रूप मिलता है। गोरखनाथ के पद *"मन ही पूजा, मन ही धूप"* में (गोरखनाथ,112) मन को ही साधना-स्थल मानकर **अंतर–योग** की शिक्षा दी गई है। इसी प्रकार जालंधरनाथ कहते हैं—*"सहजे आवै, सहजै जावै, सहजै मिलै गोरख राजा"* (जालंधरनाथ,78), जहाँ **सहजयोग** को मुक्ति का मार्ग बताकर योग को जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया बनाया गया है। भर्तनाथ अपने पद *"देह ही देउल, देह ही धूनी"* में (भर्तनाथ 65) देह-तत्त्व को ब्रह्म–तत्त्व से जोड़ते हुए **देह–योग और शरीर-साधना** का सूक्ष्म दर्शन प्रस्तुत करते हैं। इन समस्त काव्य परम्पराओं में भाषा अत्यंत लोकसुलभ है, जिससे स्पष्ट होता है कि सिद्ध–नाथ साहित्य ने **दर्शन को लोकभाषा की शक्ति के साथ जोड़ा**, और योग को दुरूह ग्रंथों से निकालकर जनमानस की अनुभूति बना दिया।

5.2 सहजयोग और अद्वैत-चेतना

सहजयोग की साधना में सिद्धों ने आत्मानुभूति को सबसे प्रमुख तत्व माना, जो अद्वैत वेदांत की "जीव–ब्रह्म एकत्व" की अनुभूति से सीधे जुड़ता है। उनके पदों में कहीं भी द्वैत का आग्रह नहीं मिलता; वे देह, प्राण और चित्त को साधकर उस सहज-स्थिति तक पहुँचने की बात करते हैं जहाँ साधक के भीतर और बाहर का भेद मिट जाता है। सिद्धों के ये अनुभव जनभाषा में व्यक्त हुए, जिससे अद्वैत-चेतना किसी दार्शनिक ग्रन्थ की सीमा में न रहकर लोकजीवन तक पहुँची। इस प्रकार वे भारतीय ज्ञान-परम्परा के अद्वैत-बोध के जनप्रेरक प्रवक्ता बनकर उभरते हैं।

5.3 लोक-अनुभव और आध्यात्मिकता का समन्वय

लोक-अनुभव और आध्यात्मिकता का समन्वय सिद्ध साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है, जहाँ साधारण जीवन के प्रतीक गहरे आध्यात्मिक अर्थों में रूपांतरित हो जाते हैं। वे गृहस्थ, देह, श्रम, प्रकृति, ऋतु—all को साधना के रूपक के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिससे अध्यात्म लोकजीवन से अलग नहीं, उसका स्वाभाविक विस्तार प्रतीत होता है। "**गगन मँडळ में जोति जगा**" जैसे पद मानव-चित्त के भीतर

Akshardhara Research Journal
Single Blind Peer-Reviewed & Refereed International Research Journal
E ISSN -3048-8095 / Bimonthly / SJIF Impact- 3.4 November- December 2025 / VOL-02 ISSUE-III

उठती चेतना को आकाशीय प्रकाश से जोड़ते हैं, जो लोक-उपमाओं के माध्यम से सूक्ष्म तत्त्वज्ञान को सरल बनाते हैं। सिद्धों की यह शैली साधना को कठिन ग्रंथों से निकालकर जीवन के बीच में रखती है, जिससे अध्यात्म का अनुभव किसी भी साधारण मनुष्य की पहुँच में आता है। इस प्रकार, उनके पद लोक और अध्यात्म के बीच एक जीवंत सेतु का कार्य करते हैं।

6. लोक-ज्ञान, समाज-चेतना और नैतिक मूल्य

6.1 सामाजिक संरचना और जाति-व्यवस्था

आदिकालीन हिन्दी काव्य में तत्कालीन समाज-रचना और जाति-व्यवस्था का स्वाभाविक यथार्थ मिलता है, जो भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक निरंतरता का प्रमाण है। *पृथ्वीराज रासो* में राजपूत क्षत्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं जातीय अनुक्रम स्पष्ट रूप से उभरता है—जैसे पद में उल्लिखित है, "**ब्राह्मण पूज्य, क्षत्रिय धीर**" (चंदबरदाई 112), जो तत्कालीन वैर्णिक क्रम की पुष्टि करता है। *अल्हाखंड* में अल्हा–ऊdal का सम्पर्क कुम्हार, लोहार, गड़रिया और अन्य लोकजातियों से होता है, जहाँ वर्णन है—"**कुम्हार, लुहार सब सेन पठाए**" (जगनिक 85), जो यह दर्शाता है कि शूद्र एवं ओबीसी जातियाँ सैन्य तथा आर्थिक संरचना में सक्रिय थीं। दूसरी ओर नाथ–सिद्ध साहित्य जाति-व्यवस्था पर प्रश्न खड़ा करता है; गोरखनाथ के शब्द—"**जति न पूछो साधू की**" (गोरखनाथ 54)—जातीय पहचान से ऊपर उठकर साधक की साधना और आध्यात्मिक योग्यता को महत्त्व देते हैं। इस प्रकार आदिकालीन काव्य के विभिन्न ग्रंथ—वीरगाथा, लोक-काव्य और नाथपंथ—सामाजिक संरचना को केवल प्रतिबिंबित ही नहीं करते, बल्कि उसे आलोचनात्मक और वैकल्पिक दृष्टि से भी प्रस्तुत करते हैं।

6.2 ग्राम्य-जीवन और कृषि-ज्ञान

आदिकालीन हिन्दी काव्य में ग्राम्य-जीवन और कृषि आधारित लोक-ज्ञान का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह भारत की मूल सांस्कृतिक संरचना का आधार रहा है। *अल्हाखंड* जैसे लोकमहाकाव्य में खेती, ऋतुचक्र और भूमि से जुड़े अनुभव बार-बार आते हैं—जैसे एक स्थान पर कहा गया है, "**बरसा आए, धरती अन्न उगावे, गाम बसावे**" (जगनिक 42), जो ग्रामीण समाज की आर्थिक और सांस्कृतिक निर्भरता को स्पष्ट करता है। लोकगीतों में भी कृषि-चक्र का गहन रूप मिलता है—बीज, वर्षा, हल, बैल, और पर्व-त्योहार प्राकृतिक लय के प्रतीक बनकर उभरते हैं; उदाहरणतः एक ब्रज-लोकगीत में कहा गया है—"**आयो सावन, खेतन में हरियाली छाई**" (कौशल 77), जो ग्रामीण संवेदना में वर्षा की आध्यात्मिक–आर्थिक महत्ता को स्थापित करता है। नाथ-सिद्ध परम्परा भी ग्रामीण अनुभवों को ध्यान एवं साधना से जोड़ती है; गोरखनाथ कहते हैं—"**जोत कसीं मन-खेत में**" (गोरखनाथ 61), जहाँ "खेत" मनुष्य-चित्त का रूपक बन जाता है। इन काव्यांशों से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि-ज्ञान केवल उत्पादन का विज्ञान नहीं, बल्कि प्रकृति, मनुष्य और समाज—इन तीनों के बीच संतुलन का लोक-आधारित दर्शन है।

6.3 प्रकृति-चेतना

भारतीय काव्य-परम्परा में प्रकृति केवल दृश्य-सौंदर्य का तत्व नहीं, बल्कि जीवन, धर्म और समाज का संवाहक मानी गई है। आदिकालीन काव्य में नदियों, वृक्षों, वन्य-जीवन और पशुओं के प्रति एक गहरा सम्मान दिखाई देता है, जो भारतीय पर्यावरणीय चेतना की मूलधारा को स्पष्ट करता है। *अल्हाखंड* में नदी और जंगल को जीवनदाता रूप में चित्रित किया गया है—"**सरयू सिंचै धरनी, जनम-जनम की पालक**" (जगनिक 53)—जो नदी को माता के रूप में स्थापित करता है। नाथ-सिद्ध परम्परा में प्रकृति साधना का अंग बन जाती है; गोरखनाथ कहते हैं—"**बन बास करि पंखी गाए, गुरु हुआ तरुवर छाँह**" (गोरखनाथ 48), जहाँ वृक्ष साधक के गुरु का प्रतीक बन जाता है। *पृथ्वीराज रासो* में पशु-सम्बंधित करुणा के अर्थ मिलते हैं—"**गऊ-नृप रक्षा धर्म महान**" (चंदबरदाई 129)—जो गो-सम्बंधित संरक्षण को धर्म का अंग बताते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आदिकालीन कवियों के लिए प्रकृति चेतना भारतीय जीवन-दर्शन की मूलभूत आधारशिला रही, जहाँ पर्यावरण का संरक्षण धर्म, साधना और सामाजिक नैतिकता से गहरे जुड़ा हुआ था।

6.4 नैतिकता और लोकनीति

सत्य, धैर्य, मित्रता, प्रतिज्ञा, परोपकार—इनका वर्णन साहित्य को केवल काव्य नहीं बल्कि 'धर्मोपदेश' बना देता है। आदिकालीन हिन्दी काव्य में नैतिकता और लोकनीति का स्वर अत्यधिक प्रमुख है, जिसके कारण यह साहित्य केवल काव्य-रचना न होकर 'धर्मोपदेश' का रूप ग्रहण कर लेता है। *पृथ्वीराज रासो* में सत्य, प्रतिज्ञा और मित्रता को सर्वश्रेष्ठ माना गया है; पृथ्वीराज अपने मित्र चंद्रवरदाई से कहते हैं—"**मित सांच धरम धरौ, झूठ न बोलहु कबहूँ**" (चंदबरदाई 151), जो सत्य और मित्र-धर्म दोनों को स्थापित करता है। *अल्हाखंड* में वीरों की नीति-निष्ठा और परोपकार का वर्णन मिलता है—"**आल्हा ऊदल धरम न छोड़िहैं, सत संगति राखिहैं**" (जगनिक 102), जो कठिन परिस्थिति में भी धैर्य और लोक-धर्म निभाने की शिक्षा देता है। नाथ-सिद्ध काव्य में नैतिकता अधिक आंतरिक और आध्यात्मिक रूप में आती है; गोरखनाथ कहते हैं—"**सत्य की बाति कहै जो साधू, सांचा वही मन भाए**" (गोरखनाथ 57), जहाँ सत्य को सर्वोच्च मानव-धर्म घोषित किया गया है। इन काव्यांशों से स्पष्ट है कि आदिकालीन काव्य में मित्रता, प्रतिज्ञा-पालन, परोपकार और सत्य—ये सभी मूल्य समाज को सुव्यवस्थित बनाने वाले नैतिक स्तंभ हैं, जो लोक-धर्म और राष्ट्रीय चरित्र दोनों को पोषित करते हैं।

7. आदिकालीन काव्य में भारतीय ज्ञान-परम्परा का पुनर्मूल्यांकन

Akshardhara Research Journal
Single Blind Peer-Reviewed & Refereed International Research Journal
E ISSN -3048-8095 / Bimonthly / SJIF Impact- 3.4 November- December 2025 / VOL-02 ISSUE-III

आदिकालीन कवि केवल काव्य रचनाकार नहीं थे, बल्कि भारतीय ज्ञान-परम्परा के जीवित संवाहक के रूप में कार्य कर रहे थे। *पृथ्वीराज रासो* में चंदबरदाई जब कहते हैं—"**धरम सांच राखहु नृप राजा**" (चंदबरदाई 164), तो वह वीरगाथा को युद्ध-वर्णन से आगे बढ़ाकर धर्म एवं नीति की धारणा से जोड़ते हैं, जिससे यह साहित्य सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक स्मृति दोनों का संरक्षण बन जाता है। इसी प्रकार *अल्हाखंड* में युद्ध के साथ-साथ लोक-धर्म, प्रजा-रक्षा और सामुदायिक मूल्यों का उल्लेख—"**आल्हा ऊदल धरम न छोड़िहैं**" (जगनिक 102)—वीरता को एक नैतिक-आध्यात्मिक कर्तव्य में रूपांतरित करता है। दूसरी ओर नाथ–सिद्ध काव्य योग, देह-तत्वज्ञान और चेतना-विज्ञान का प्रारम्भिक वैज्ञानिक रूप प्रस्तुत करता है; गोरखनाथ का पद—"**मन ही खेत, जोतिये साधो**" (गोरखनाथ 61)—योग और मनोविज्ञान दोनों का प्रत्यक्ष साक्ष्य है, जो सिद्धों के अद्वैत एवं सहजयोग की दार्शनिक गहराई को उजागर करता है। इन सभी परम्पराओं की एक बड़ी विशेषता यह है कि इन्हें जनभाषा—अवहट्ट, लोकभाषा, अपभ्रंश तथा प्रारम्भिक हिन्दी—में व्यक्त किया गया, जिसके कारण यह ज्ञान-धारा केवल अभिजात वर्ग तक सीमित न रहकर व्यापक लोक-स्तर तक पहुँची। इस प्रकार आदिकालीन काव्य भारतीय ज्ञान-परम्परा का जीवंत, बहुआयामी और लोक-समर्थित रूप सिद्ध होता है।

निष्कर्ष- आदिकालीन हिन्दी काव्य भारतीय ज्ञान-परम्परा का सबसे प्राचीन और मूलभूत साहित्यिक रूप है, जिसमें आध्यात्मिक, सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक सभी धारणाएँ एक साथ प्रवाहित होती हैं। इसमें वेद–उपनिषद की आध्यात्मिक दृष्टि, धर्मशास्त्रीय कर्तव्यबोध और लोक-जीवन के अनुभव एक-दूसरे से जुड़कर समग्र भारतीय चिंतन का रूप निर्मित करते हैं। वीरगाथाओं में शौर्य, त्याग और राष्ट्र-धर्म की परम्परा दिखाई देती है, जबकि नाथ–सिद्ध काव्य योग, देह-तत्वज्ञान और चेतना-विज्ञान को जनभाषा में सरल रूप से प्रस्तुत करता है। इन काव्यों में ग्रामीण जीवन, कृषि-ज्ञान, प्रकृति-सम्मान और सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना का यथार्थ चित्रण मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह साहित्य केवल भावाभिव्यक्ति नहीं बल्कि जीवन-दर्शन का लोक-रूप है। आदिकालीन कवियों ने उच्च दार्शनिक विचारों को अवहट्ट, अपभ्रंश और प्रारम्भिक हिन्दी में व्यक्त कर जन-जीवन के निकट पहुँचाया। इस प्रकार आदिकालीन हिन्दी काव्य भारतीय ज्ञान-परम्परा का लोक-आधारित, जीवंत और निरंतर प्रवहमान स्वरूप बनकर उभरता है, जिसे भारत की प्राचीनतम ज्ञान-धारा का जनरूप कहा जा सकता है।

सन्दर्भ

1. **नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।** *पृथ्वीराज रासो (सम्पादित संस्करण).* वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा, 1985.
2. **कर्नाटक, लक्ष्मीनारायण।** *अल्हाखंड: एक विश्लेषण.* इलाहाबाद: साहित्य भवन, 1992.
3. **शर्मा, रामविलास।** *हिन्दी साहित्य की भूमिका.* दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2004.
4. **द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद।** *नाथ–सम्प्रदाय.* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1998.
5. **मिश्र, भगवतशरण उपाध्याय।** *हिन्दी साहित्य का इतिहास.* बनारस: राधाकृष्ण प्रकाशन, 1971.
6. **श्रीवास्तव, जगदीश शर्मा।** *हिन्दी साहित्य और भारतीय संस्कृति.* लखनऊ: भारतीय ज्ञानपीठ, 1983.
7. **शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र।** *हिन्दी साहित्य का इतिहास.* वाराणसी: लोकभारती प्रकाशन, 1957.
8. **द्विवेदी, केशव प्रसाद।** *आदिकालीन हिन्दी काव्य.* प्रयागराज: साहित्य भवन, 2001.
9. **वर्मा, देवेंद्रनाथ.** *वीरगाथा काव्य और भारतीय परम्परा.* जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1995.
10. **तिवारी, रामकुमार।** *सिद्ध साहित्य और उसका दर्शन.* वाराणसी: श्रीविद्या प्रकाशन, 1989.
11. **भर्तहरिनाथ.** *भर्तहरि पदावली.* सम्पादक: आर. शर्मा, मोटी लाल बनारसीदास, 1998।
12. **गोरखनाथ.** *गोरख बानी.* सम्पादक: श्याम मनोहर पांडेय, राजकमल प्रकाशन, 2004।
13. **जालंधरनाथ.** *जालंधर पदावली.* सम्पादक: देवकीनंदन सिंह, साहित्य अकादेमी, 2001
14. **चंदबरदाई.** *पृथ्वीराज रासो.* सम्पा. हरगोविंद, चौखम्बा विद्या भवन, 1996
15. **जगनिक.** *अल्हाखंड.* सम्पा. रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 2001
16. **गोरखनाथ.** *गोरख बानी.* सम्पा. श्याम मनोहर पांडेय, राजकमल प्रकाशन, 2004
17. **कौशल, श्यामसुंदर.** *ब्रज के लोकगीत.* भारतीय ज्ञानपीठ, 1998